

प्रसाद के नाटकों में विरोध तथा संघर्ष

- प्रो० नरेन्द्र कोहली

शास्त्रकारों ने नाटक में किसी न किसी प्रकार के संघर्ष की कल्पना अवश्य की है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध उक्ति 'के समान कदाचित यह तो नहीं कहा गया कि संघर्ष के अभाव में नाटक का अस्तित्व ही संभव नहीं है, किंतु नाटक के स्वरूप का शास्त्रीय अध्ययन यह पूरी तरह स्पष्ट कर देता है कि नाटक में किसी न किसी प्रकार के फल की प्राप्ति अवश्य होती है। फल की प्राप्ति तथा अप्राप्ति की संभावनाओं में द्वंद्व चलता रहता है और कभी आशा तथा कभी निराशा की उद्भावना होती रहती है। अंत में प्रायः फल की प्राप्ति हो ही जाती है।

विरोधी भावों के द्वंद्व में अंतर्निहित, विरोधी तत्व का निषेध नहीं किया जा सकता और न ही उनमें उपस्थित संघर्ष से इंकार किया जा सकता है। वस्तु को देखने की विभिन्न दृष्टियाँ, कार्यावस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ एवं संधियाँ - सभी नाटक के इस संघर्ष को प्रमाणित करती हैं।

'प्रसाद' के प्रायः सभी प्रमुख नाटक न केवल पौराणिक अथवा ऐतिहासिक हैं, वरन् उन सब में विरोध एवं संघर्ष का यह स्वरूप पर्याप्त मुखरता के साथ चित्रित हुआ है। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि प्रसाद के नाटक भारतीय नाट्य-शास्त्र की समस्त शक्तों को पूरा करते हैं तथा उनमें समस्त शास्त्रीय-तत्व अपनी पूर्णता में खोजे जा सकते हैं, किंतु यह सत्य है कि उनके नाटकों में विरोध एवं संघर्ष का यह तत्व, न केवल कथा के निर्वाह संबंधी शास्त्र की कुछ प्रमुख अपेक्षाओं को पूर्ण करता है, वरन् प्रसाद के विभिन्न नाटकों में वर्णित इन विरोधों एवं संघर्षों का एक सामान्य एवं विशिष्ट रूप भी है जो उनके चिंतन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' का विश्लेषण इस प्रतिज्ञा को पुष्ट करता है। 'अजातशत्रु' तथा 'विशाख' निश्चित रूप से इस कोटि में नहीं आते।

'सज्जन' महाभारत की एक घटना पर आधारित एकांकी है। पांडव तथा कौरव परिजन होते हुए भी विरोधी पंक्तियों में खड़े हैं और उनमें परस्पर विरोध एवं संघर्ष होता ही रहता है। द्यूत में कौरवों से हार कर पांडव वनवास कर रहे हैं और एक प्रकार से अपनी पराजय में भी संतुष्ट रह कर धर्म के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए, जीवन की विषम परिस्थितियों से समझौता कर रहे हैं। किंतु दुर्योधन उन्हें पराजित करके ही संतुष्ट नहीं है। अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कर, उसकी तुलना में उनकी हीन दशा को रेखांकित कर वह उन्हें अपमानित और पीड़ित भी करना चाहता है, और इस नीच प्रयोजन से वह वहाँ उपस्थित भी होता है। पांडवगण पराजित हैं, सैन्य एवं राजसत्ताविहीन हैं तथा अपने धर्म एवं चरित्रों की मर्यादा से बंधे, वे दुर्योधन की दुष्टता का प्रतिवाद करने को प्रस्तुत नहीं हैं। गंधर्व चित्रसेन अर्जुन का मित्र है और दुर्योधन की इस दुष्टता से दुखी है। वह उसका प्रतिवाद करने में समर्थ एवं स्वतंत्र है। परिणामतः वह बल-प्रयोग कर दुर्योधन को बंदी बनाता है और उसे उसकी दुष्टता का दंड देना चाहता है। किंतु युधिष्ठिर की आज्ञा पर अर्जुन वहाँ आता है और अपने बल तथा युद्ध-कौशल से चित्रसेन को हराकर दुर्योधन को मुक्त करा देता है।

इस एकांकी के माध्यम से प्रसाद ने युधिष्ठिर की सज्जनता को तो चित्रित किया ही है, किंतु साथ-साथ विरोध तथा संघर्ष को लेकर अपने कुछ विचारों को भी स्पष्ट किया है। एकांकी के नायक पांडव हैं, अतः लेखक का तादात्म्य उन्हीं के साथ होता है, परिणामतः दुर्योधन विरोधी तत्व के रूप में वहाँ विद्यमान है। चित्रसेन पांडवों का मित्र है, फिर भी युधिष्ठिर ने अर्जुन को क्यों भेजा और अर्जुन ने अपने मित्र को पराजित कर 'शत्रु' को मुक्त क्यों कराया ? इस प्रश्न का उत्तर 'युधिष्ठिर की सज्जनता' मात्र नहीं है। यह एकांकी प्रसाद के चिंतन, उनकी विरोध एवं संघर्ष संबंधी अवधारणाओं के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है।

विरोधी होते हुए भी कौरव, पांडवों के परिजन हैं, अतः उनका विरोध घरेलू झगड़े का-सा है। चित्रसेन पांडवों का मित्र होते हुए भी बाहरी व्यक्ति है, अतः उसका कौरवों पर आक्रमण बाहरी तत्व का आक्रमण है। इन परिस्थितियों में पांडव चित्रसेन से अपनी मैत्री को भूल जाते हैं और उसे बाहरी आक्रमणकारी के रूप में

स्वीकार कर उसका विरोध करते हैं।

प्रसाद के प्रायः ऐतिहासिक-पौराणिक नाटक संघर्ष के किसी न किसी भीषण काल को लेकर लिखे गए हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि संघर्ष काल की कुछ पूर्व-परिस्थितियाँ होती हैं, और उन परिस्थितियों के उपस्थित होते ही देश या राष्ट्र एक ऐसे महत्वपूर्ण बिंदु पर आकर खड़ा हो जाता है, जहाँ सही नेतृत्व मिलने से देश का उद्धार होता है और गलत शक्तियों के बल पकड़ने से देश सर्वनाश के हाथों बिक जाता है। किसी भी देश के भाग्य निर्णायक क्षण की परिस्थितियाँ वे ही होती हैं और निर्णय के उचित-अनुचित भर के अंतर से, देश का भविष्य सूक्ष्म तंतु से बंधा लटक रहा होता है।

संघर्षकाल में उथल-पुथल किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती। प्रायः देश की भीतरी फूट का लाभ उठाकर विदेशी शत्रु आक्रमण कर देते हैं और उसके विपरीत, बाहरी आक्रमण के संकट से लाभ उठाकर भीतरी विरोधी, विभाजक तथा स्वार्थी तत्त्व विद्रोही हो उठते हैं। कर्तव्य विस्मृत हो जाता है और देश, सुख तथा विलास के पीछे अंधा होकर दौड़ने लगता है। 'प्रसाद' ने 'अजातशत्रु' के सिवाय शेष सभी प्रमुख नाटकों में संघर्षकालीन इन दोनों प्रकार के विरोधों को प्रस्तुत किया है।

'प्रायश्चित' में जयचंद पृथ्वीराज चौहान का आंतरिक शत्रु है और मुहम्मद गोरी विदेशी आक्रांता, 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में नाग लोग बाहर से आक्रमण कर रहे हैं तथा कश्यप भीतर से जनमेजय का विरोध कर रहे हैं, 'राज्यश्री' में राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन को विदेशी आक्रमणकारियों - देवगुप्त एवं शशांक से भी जूझना पड़ता है तथा भीतरी विरोधी तथा विश्वासघाती - शांतिभिक्षु अथवा विकटघोष से भी।

'स्कंदगुप्त' में आकर यह पैटर्न बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है और किसी भी प्रकार की दुविधा शेष नहीं रहती। स्कंदगुप्त भारत के जन-सामान्य का एकमात्र प्रतिनिधि ही नहीं है, वरन् वह देश से एकाकार हो गया है और देश के प्रतिनिधि के रूप में वह एक ओर शक, हूण तथा पुष्यमित्र (यदि पुष्यमित्रों को विदेशी जाति के रूप में स्वीकार किया जाए) जैसे विदेशी आक्रांताओं से जूझता है और दूसरी ओर भीतरी शत्रु पुरगुप्त, अनंतदेवी, भटार्क, विजया, प्रपंचबुद्धि तथा अन्य बौद्ध मतावलंबी उसके सम्मुख हैं।

ठीक उसी प्रकार 'चंद्रगुप्त' में चंद्रगुप्त इस देश का प्रतीक है और उसे अपने अनेकानेक सहायकों के साथ अलक्षेन्द्र, फिलिप तथा सैल्यूकस सरीखे वीर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता है, तथा दूसरी ओर नंद, राक्षस एवं आम्भीक जैसे भीतरी शत्रुओं से संघर्ष करना पड़ता है। इस नाटक में आकर प्रसाद ने विरोधियों का एक नए प्रकार का वर्ग भी खड़ा किया है, जो इससे पूर्व किसी नाटक में दिखाई नहीं पड़ता और न ही उनके अंतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी में ही उसका अस्तित्व है। वस्तुतः यह वर्ग पूर्णतः विरोधी भी नहीं है, उससे विरोध की संभावना मात्र है। यह प्रतिद्वंद्वी वर्ग है।

'चंद्रगुप्त' का पर्वतेश्वर स्वीकृत राष्ट्रभक्त तथा दृढ़ चरित्र का व्यक्ति है। अवसर आने पर अलक्षेन्द्र का जैसा विरोध उसने किया, वह इस बात का प्रमाण है कि उसके शौर्य, वीरता तथा देशभक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता। जब विदेशी आक्रमणकारियों को देश की सीमाओं से बहुत दूर खदेड़ दिया जाता है तो वह अपनी समस्त सैन्य-शक्ति को लेकर चंद्रगुप्त के समर्थन में देश के आंतरिक शत्रुओं से संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत होता है। वस्तुतः नंद की शक्ति को नष्ट करने तथा उसकी सत्ता को प्राप्त करने का सबसे बड़ा उपकरण पर्वतेश्वर ही था। किंतु, सत्ता प्राप्त होने के पश्चात् चाणक्य तथा प्रसाद दोनों इस बात पर सहमत हैं कि चंद्रगुप्त के भविष्य को पर्वतेश्वर से सबसे बड़ा खतरा है। पर्वतेश्वर आधे राज्य का अधिकारी है और यह साम्राज्य के लिए उचित नहीं है, अतः वीरत्व, देशभक्ति तथा दृढ़चरित्र के होते हुए भी वह चंद्रगुप्त का शत्रु समझा जाता है और उसका संहार किया जाता है।

नंद की पुत्री 'कल्याणी' चंद्रगुप्त की प्रेमिका है और उसे कहीं-कहीं चंद्रगुप्त की पत्नी तथा बिंदुसार की माँ के रूप में भी स्वीकार किया जाता है, किंतु प्रसाद ने जिन कारणों से पर्वतेश्वर को चंद्रगुप्त का विरोधी माना था, उन्हीं कारणों से कल्याणी को भी शत्रु-पक्ष में परिगणित किया गया। कल्याणी नंद की पुत्री थी अतः नंद के पक्ष वाले लोग उसे अपनी नेत्री बनाकर विद्रोह कर सकते थे। उससे भी प्रतिद्वंद्विता की आशंका थी, अतः उसे भी विरोधियों में रखा गया।

‘स्कंदगुप्त’ तथा ‘ध्रुवस्वामिनी’ में भी यह प्रतिद्वंद्वी वर्ग हो सकता था, किंतु वहाँ प्रसाद ने इस वर्ग को उपस्थित नहीं किया है। ‘स्कंदगुप्त’ में शत्रु पुरगुप्त, संपूर्ण विजय के पश्चात् भी प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रस्तुत हो सकता था, किंतु स्कंद का अपने चरित्र का एक बड़ा भाग संन्यासी था, अतः वह स्वयं ही आजीवन कुमार रहने का व्रत लेकर तथा पुरगुप्त को युवराज बनाकर प्रतिद्वंद्विता की संभावना को समाप्त कर देता है। यह भी संभव है कि स्कंद के पश्चात् पुरगुप्त के सम्राट बनने के ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा के लिए ही प्रसाद ने इस घटना को स्वीकार किया हो। ध्रुवस्वामिनी में भी यदि ‘रामगुप्त’ की हत्या न होती तो प्रतिद्वंद्वी वर्ग का प्रश्न उठता। शकराज की प्रतिनिधि के रूप में संयोग से कोमा की भी हत्या हो चुकी थी, अतः कल्याणी के समान किसी प्रतिद्वंद्वी की संभावना ही समाप्त हो जाती है।

शेष अंशों में ‘ध्रुवस्वामिनी’ में भी विरोधी तत्त्व, पूर्व नाटकों के ही समान है। शकराज बाहरी आक्रमणकारी है और रामगुप्त तथा शिखरस्वामी भीतरी शत्रु हैं। शत्रुओं के इन वर्गों को लेकर ‘ध्रुवस्वामिनी’, ‘स्कंदगुप्त’ की अपेक्षा ‘चंद्रगुप्त’ के अधिक अनुकूल है। स्कंदगुप्त के हाथ में एक प्रकार से सत्ता है और उसके भीतरी शत्रु उससे सत्ता छीनने के प्रयत्न में हैं, जबकि ‘चंद्रगुप्त’ तथा ‘ध्रुवस्वामिनी’ में सत्ता पहले से ही भीतरी शत्रुओं – नंद, आम्भीक तथा रामगुप्त के हाथों में है।

आंतरिक शत्रु स्पष्टतः दो प्रकार के हैं – पहला वर्ग वह है जो ‘नायक’ का विरोधी तो अवश्य है। हो सकता है कि नायक के विरोध के कारण, अथवा अपने किसी वैयक्तिक स्वार्थ के कारण देश का भला भी न सोच सके, किंतु वह जानबूझ कर स्वेच्छा से देश के साथ विश्वासघात नहीं करता, वह देशद्रोही अथवा गद्दार नहीं है।

‘सज्जन’ का दुर्योधन दुष्ट तथा दंभी भी है और पांडवों का विरोधी भी, किंतु वह देशद्रोही नहीं है। ‘चंद्रगुप्त’ का नंद भी इसी प्रकार का विरोधी है। वह देश के हित में चंद्रगुप्त, चाणक्य अथवा पर्वतेश्वर के साथ मिल बैठने उनसे सहायता लेने अथवा उन्हें सहायता देने को वह प्रस्तुत नहीं है, किंतु वह देशद्रोही नहीं है। वह देश की स्वतंत्रता और सम्मान को जान-बूझकर स्वेच्छा से बेचता नहीं है।

विरोधियों का दूसरा वर्ग देश-द्रोहियों का है। ‘प्रायश्चित’ का जयचंद, ‘जनमेजय का नाग-यज्ञ’ का कश्यप, ‘स्कंदगुप्त’ के पुरगुप्त, भटार्क, प्रपंचबुद्धि, अनंतदेवी तथा अन्य बौद्ध मठाधीश और ‘चंद्रगुप्त’ का आम्भीक इस कोटि के विरोधी हैं। ये समस्त लोग विदेशियों से धन लेकर, अपना ईमान बेचने वाले देशद्रोही तथा गद्दार लोग हैं। इन लोगों की गद्दारी के विभिन्न कारण हैं : जयचंद पृथ्वीराज के विरोध के कारण, पुरगुप्त, भटार्क तथा अनंतदेवी स्कंद के विरोध, धन तथा सत्ता के लोभ में, प्रपंचबुद्धि तथा बौद्ध मठाधीश धार्मिक विद्वेष के कारण तथा आम्भीक धन के लोभ और पर्वतेश्वरद्रोह के कारण देश से गद्दारी करते हैं।

‘ध्रुवस्वामिनी’ का रामगुप्त भी देश के शत्रु के साथ एक प्रकार की दुरभिसंधि करता है, किंतु उसकी अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं। उसकी गद्दारी, तल पर एक राजनीतिक चाल के रूप में ही प्रकट होती है। स्वयं शकराज भी नहीं जानता कि उसके अपमानजनक प्रस्ताव को स्वीकार कर रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी को उसके पास क्यों भेज रहा है। वस्तुतः रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी तथा चंद्रगुप्त जैसे विरोधियों का नाश कर अपना मार्ग निष्कण्टक करना चाहता है। ‘चंद्रगुप्त’ जैसे वीर की हत्या तथा ध्रुवस्वामिनी का अपमानजनक अंत-आर्यावर्त के लिए अत्यंत हानिकारक था, किंतु रामगुप्त के इस विश्वासघात, गद्दारी एवं दुरभिसंधि के प्रति शकराज भी जागरूक नहीं था। वह उसे अपनी सहज विजय के रूप में ही स्वीकार करता है।

एक और विरोधी ‘स्कंदगुप्त’ की विजया है जो अन्य विरोधियों से कुछ भिन्न है। विजया के सम्मुख अपना स्वार्थ कम, देवसेना के प्रति द्वेष अधिक है और उसके लिए वह देशद्रोहियों से मिल जाती है। उपलब्धि उसे कोई नहीं होती, वह अपना धन, यौवन तथा सौंदर्य समर्पित ही करती है। उसका सीधा संपर्क विदेशियों से न होकर विदेशियों के सहायक देशद्रोहियों से ही है।

एक सामान्य व्यक्ति का विश्वासघात, देश के लिए अहितकर अवश्य है, किंतु कदाचित् यह उतना घातक नहीं होता। जिनपर देश की सुरक्षा का दायित्व है और उसके लिए उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त हैं, यदि वे लोग देश को बेचने के लिए प्रस्तुत हो जाएं तो देश को सर्वनाश से कोई नहीं बचा सकता। प्रसाद के नाटकों में

जयचंद, आम्भीक, पुरगुप्त, अनंतदेवी, भटार्क, रामगुप्त तथा शिखर स्वामी शासक अथवा अधिकारी वर्ग के सदस्य हैं। उनकी गद्दारी राष्ट्रभक्तों तथा साधारण प्रजा के लिए अत्यंत घातक है।

जयचंद के कारण गौरी सीधा पृथ्वीराज चौहान पर टूट पड़ा और देश के स्तंभ को तोड़ने में सफल हो सका। आम्भीक की गद्दारी के कारण सिकंदर देश के भीतर घुस पाया तथा पर्वतेश्वर जैसे राष्ट्रप्रेमी शासक की हार हुई। यदि चाणक्य-चंद्रगुप्त तथा उनके सहयोगी प्रयत्नशील न होते तो सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् भी भारतवर्ष ग्रीक सेनाओं के चरणों तले रौंदा जाता। पुरगुप्त, अनंतदेवी तथा भटार्क के देश-द्रोह के कारण स्कंदगुप्त को पग-पग पर अनंत संघर्ष करना पड़ा और देश के जन-सामान्य को कल्पनातीत कष्ट झेलने पड़े तथा हानि उठानी पड़ी।

रामगुप्त तथा शिखरस्वामी की दुरभिसंधि चंद्रगुप्त की वीरता तथा कर्तव्यपरायणता के कारण सफल नहीं हो सकी, अन्यथा चंद्रगुप्त प्रथम तथा समुद्रगुप्त के शकों, कुषाणों, हूणों तथा अन्य विदेशियों को देश से निष्कासित करने के समस्त प्रयत्न निष्फल हो जाते और हमारा देश न जाने कितनी शताब्दियों तक उन विदेशी आक्रांताओं के शासन तले कराहता रहता।

स्पष्टतः प्रसाद शासक वर्ग अथवा सत्ताधारियों के देशद्रोह तथा गद्दारी से अत्यंत त्रस्त थे और अपने नाटकों में बार-बार शासकों के देशद्रोह के तथ्य जन-सामान्य के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे थे। उनके अपने समय में देश के शासक अंग्रेज थे, अतः उनसे देशद्रोह की संभावना नहीं थी, वे विदेशी थे, किंतु कदाचित् प्रसाद यह भूल नहीं पाते होंगे कि देशी रियासतों के तथाकथित महाराजाओं ने अपने राज्यों को अंग्रेजों के हाथों में बेच रखा था और उसके मूल्य-स्वरूप उन्होंने अनंत विलास पाया था। दूसरी ओर समाज के नेतागण, धनी-मानी सेठ-ईस तथा जमींदार इत्यादि जो समाज के अग्रणी थे, उन लोगों ने अंग्रेजों के हाथों स्वयं तथा अपने देश को बेचकर उपाधियाँ, जमींदारियाँ, जायदादें और ठेके प्राप्त किए थे। अतः यह आवश्यक था कि जन-सामान्य इन गद्दारों से सावधान रहे और अपने देश की रक्षा के लिए स्वयं तत्पर रहे।

एक संभावना यह भी है कि स्वातंत्र्य-संग्राम के पश्चात् आने वाली स्वतंत्रता की रखवाली के लिए भी वे देश को सावधान कर रहे हों - हमने देखा है कि संवैधानिक रूप से स्वातंत्र्योपलब्धि के पश्चात् भी हमारे नेताओं ने अपने स्वार्थों के लिए हमारी स्वतंत्रता को विदेशियों के सम्मुख खुलेआम बेचा है। देश को बेचने वाले सत्ताधारियों से बड़ा शत्रु और कोई नहीं हो सकता।

‘जनमेजय का नाग-यज्ञ’ के कश्यप सम्राट जनमेजय से रुष्ट हैं और एक प्रकार से ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष का स्पष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं। इसी आंतरिक कलह के कारण वे जनमेजय के शत्रु नागराज तक्षक से मिल जाते हैं और उनकी सहायता से अपने यजमान आर्य क्षत्रियों का नाश करवाना चाहते हैं।

‘स्कंदगुप्त’ में भी कुछ इसी के अनुरूप प्रपंचबुद्धि तथा उत्तराखंड के बौद्ध संघ न केवल देश के शत्रुओं - पुरगुप्त, अनंतदेवी तथा भटार्क के सहायक होते हैं, वरन् श्वेत हूणों से उत्कोच स्वरूप विपुल धन लेकर देश के साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ‘चंद्रगुप्त’ में नंद तथा राक्षस इत्यादि लोग बौद्ध हैं तथा ब्राह्मणों के घोर शत्रु हैं।

कदाचित् प्रसाद के सम्मुख तत्कालीन साम्प्रदायिक झगड़े बहुत भयंकर रूप में प्रस्तुत थे और प्रसाद स्पष्ट रूप से देख रहे थे देश में जातिगत, धर्मगत अथवा अन्य किसी प्रकार की आंतरिक कलह कभी भी सुखदायी नहीं होती। विदेशी आक्रांता किसी भी प्रकार इस आंतरिक कलह का लाभ उठाते हैं और अपने अत्याचारी शासन को दृढ़ तथा स्थायी बनाने के लिए अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को अपने साथ मिला लेते हैं। और देशवासी यह नहीं जानते कि वे अपनी आंतरिक कलह के कारण कितने दुर्बल एवं खोखले हो चुके हैं और उनका सामान्य शत्रु उनसे कितना लाभ उठा रहा है।

फूट डालकर शासन करने की इस पद्धति को अत्यंत स्पष्ट रूप में प्रसाद ने अभिव्यक्त किया है : “वह सिद्धांतविहीन नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचाई जा रही है।”²

किंतु इसी समस्या का एक दूसरा पक्ष भी है। ब्राह्मण लोग वैदिक युग में सर्वोपरि थे और उन्हें असंख्य

असाधारण सुविधाएँ प्राप्त थीं, जो कदाचित् महाभारत के पश्चात् जनमेजय के काल में आकर उनसे छिन गई थीं। ठीक उसी प्रकार, बौद्ध राजाओं के युग में बौद्ध मठाधीशों को प्राप्त विशिष्टताएँ गुप्त राजाओं के युग में उन्हें उपलब्ध नहीं रह गई थीं।

इन वर्गों के सुविधालोलुप, आलसी नेता पुनः अपनी वे सुविधाएँ तथा विलास पाने के लिए लालायित थे, किंतु उस समय क्रमशः क्षत्रिय तथा वैदिक धर्मानुयायी अधिक सबल हो उठे थे। ऐसी स्थिति में उन नेताओं ने अपने अनुयायियों सहित शत्रुओं का सहायक होना स्वीकार किया था और देश के साथ विश्वासघात करने के लिए प्रस्तुत हो गए थे।¹³

संभावना इस बात की है कि 'प्रसाद' मुहम्मद अली जिन्ना तथा मुस्लिम लीग की द्विराष्ट्र समर्थक, देश की विभाजक तथा अंग्रेजों की पक्षधर राजनीति से आशंकित थे और देशवासियों को पुनः पुनः इस खतरे से सावधान कर रहे थे। अतीत के सुविधाभोगी, अल्पसंख्यक तत्वों के गलत नेतृत्व में पड़कर देश के साथ विश्वासघात की संभावनाएँ उनके सम्मुख पर्याप्त सबल थीं, और बाद की घटनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि प्रसाद की आशंकाएँ निराधार नहीं थीं। मुस्लिम लीग के हिंदू तथा मुस्लिम-दो राष्ट्रों के सिद्धांत ने देश का विभाजन करवाया और जो लोग एक देश के नागरिक बनकर समान रूप से शांतिपूर्वक इकट्ठे रह सकते थे, वे दो शत्रु पड़ोसियों के रूप में आमने-सामने संगीनों तानकर खड़े हैं। एकाधिक बार युद्ध हो चुके हैं - निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी हुई है और परस्पर घृणा को वर्धमान किया जा रहा है। 'प्रसाद' शायद यह चाहते थे कि प्रपंचबुद्धि की राजनीतिक पराजय हो और प्रख्यातकीर्ति के नेतृत्व में अल्पसंख्यक लोग भी देश-विरोधी मार्ग त्याग कर राष्ट्र के सहायक हों, किंतु खाँ अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ¹⁴ तथा मौलाना अबुलकलाम आज़ाद प्रभृति के समस्त प्रयत्नों के पश्चात् भी मुस्लिम लीग ने यह संभव नहीं होने दिया। और स्वतंत्रता के प्रायः चौथाई शताब्दी के पश्चात् फिर एक बार इतिहास ने अपने-आप को दुहराया-गलत नेतृत्व में पड़कर पुनः एक मुस्लिम लीग की स्थापना हुई है और इस देश को निर्जीव लोथ के समान नोचने-खसोटने वाली विभाजक राजनीति का खुले-आम प्रचार किया जा रहा है, किंतु इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा।

जब कभी राष्ट्र के जीवन में ऐसा संकट-काल उपस्थित होता है, वातावरण में कई स्पष्ट समानताएँ मुखर होकर बोलने लगती हैं। इसी स्थिति को प्रसाद ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है : "आंधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तंभित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है।"¹⁴ अथवा, "एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह अस्त्रागार में घुस कर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इंद्र-धनुष-सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुंदर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी, और वीर हृदय मयूर-से नाचेंगे।"¹⁵

'स्कंदगुप्त' नाटक का आरंभ ही इन परिस्थितियों से होता है। 'पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है,' 'शक-राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है,' 'नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है,' 'वलभी का पतन अभी रुका है। किंतु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है।' दूसरी ओर अनंतदेवी, पुरगुप्त, भटार्क तथा प्रपंचबुद्धि अपने षड्यंत्र रच रहे हैं; 'कुमाराभात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया' तथा 'इधर प्रौढ़ सम्राट के विलास की मात्रा बढ़ गई है।'

'चंद्रगुप्त' में 'आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खंडराज्य द्वेष से जर्जर हैं। दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।' आम्भीक षड्यंत्र कर रहा है, नंद पुरु से रुष्ट है और अलक्षेन्द्र की (तथाकथित) विश्वविजयी सेनाएँ भारत की सीमाओं के द्वार खटखटा रही हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' में स्थिति इतनी भयंकर तो नहीं है, किंतु फिर भी परिस्थितियों की समानता अवश्य है। चंद्रगुप्त बंदी है, उसकी वाग्दत्ता पत्नी का विवाह षड्यंत्रपूर्वक रामगुप्त से कर दिया गया है। शकराज की सेना ने गुप्त स्कंधावार को पूर्णरूपेण घेर रखा है, वह अपने लिए गुप्तकुल की वधू ध्रुवस्वामिनी तथा अपने सामंतों के लिए गुप्त साम्राज्य के सामंतों की पत्नियों को मांगने का अपमानजनक प्रस्ताव कर रहा है और परिस्थितियों की विडंबना है कि देश की बागडोर रामगुप्त जैसे विलासी, मद्यप और क्लीव के हाथों में है तथा शिखरस्वामी

जैसा धूर्त तथा पतित व्यक्ति उसका मंत्री है। इन परिस्थितियों में 'प्रसाद' का बल विशेष रूप से शासक तथा प्रजा की विलासिता पर रहा है। परिस्थितियों की भीषणता इस विलासिता के कारण और अधिक विकट हो जाती है। 'स्कंदगुप्त' में प्रौढ़ सम्राट कुमारगुप्त के विलास की मात्रा की वृद्धि की सूचना पहले दी जा चुकी है। सम्राट की इसी स्थिति पर धातुसेन व्यंग्य करता है : "सुना है सम्राट ! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है।" महादेवी के बुलावे के उत्तर में कुमारगुप्त कहते हैं : "आज तो कुछ पारसीक नर्तकियाँ आने वाली हैं, आपानक भी है।"

आगे चलकर सैनिक के रूप में शर्वनाग, भटार्क से कहता है : "यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केन्द्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं। नए-नए साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है।" तथा, "हाँ, यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद। जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है।" और अंत में जिस समय स्कंदगुप्त की सेना कुभा की बाढ़ में बह चुकी है, राष्ट्र के सभी वीर सेनानी एक-दूसरे से बिछुड़ चुके हैं, हूणों का नृशंस अत्याचार बढ़ता जा रहा है, आर्यावर्त के युवक, पर्णदत्त सरीखे वीर का, "अरे गाने भी दे बूढ़े !" कह कर तिरस्कार करते हैं और देवसेना से कहते हैं, "हाँ रे छोकरी ! कुछ गा तो।" ¹⁰

कुछ ऐसी ही विकट परिस्थितियों में 'चंद्रगुप्त' में भी मगध सम्राट के विलास-कानन में विलासी युवक और युवतियाँ वसंतोत्सव पर विहार कर रहे हैं। नंद मदिरा के अभाव के लिए नागरिकों को उलाहना देता है और अनुचर को डांटता है : "मूर्ख ! अभी और कुछ सुनावेगा? तू नहीं जानता कि मैं ब्रह्मास्त्र से अधिक इन सुंदरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ।" ¹¹ और अनुचर लोग प्रत्येक कुंज में मदिरा कलश और चषक पहुंचाने लगते हैं।

प्रजा के विद्रोह से नंद कुपित होता है। मौर्य सेनापति को अंधकूप में डाल, विचलित होकर द्राक्षासव मांगता है और सुवासिनी के सौंदर्य और यौवन से खेलना चाहता है, "सुवासिनी कितनी सरल है। प्रेम और यौवन के शीतल मेघ इस लहलही लता पर मंडरा रहे हैं और "तुम सच कहती हो, निर्बोध नंद ने कभी वह पुकार नहीं सुनी। सुंदरी ! तुम मेरी प्राणेश्वरी हो।" ¹² इत्यादि ! ध्रुवस्वामिनी में रामगुप्त 'द्राक्षासव सर में डुबकी' लगाता रहता है। वह प्रथम कोटि का मद्यप और विलासी है।

निश्चित रूप से, प्रसाद इतिहास के अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शासक की विलासिता अथवा शासक के द्वारा विलास को राजाश्रय दिए जाने से देश अपनी सतर्कता एवं कर्तव्यपरायणता से च्युत होकर आपत्तियों के भंवर में फँस जाता है। बाहर से आक्रमण होने लगते हैं और भीतर से विद्रोह ! किंतु इतिहास के इस निष्कर्ष को यह देश बार-बार भूलता रहा है और बार-बार उसका मूल्य चुकाता रहा है। आज भी देशी और विदेशी शराबों के ठेके नीलाम हो रहे हैं, विदेशों से तकनीकी पुस्तकों का आयात बंद है और विदेशी मुद्रा, अश्लील साहित्य, नग्न चित्रों और ब्लू फिल्मों के आयात पर खर्च हो रही है। युवा वर्ग बम्बई और हॉलीवुड की नग्न-कामुक फिल्मों, टी0वी0 के घटिया इशिकया फिल्मी संगीत और पीले कागज़ों में लिपटे अश्लील साहित्य तथा स्कैंडल पत्रिकाओं के घातक नशे में खोया हुआ है। डिस्कोथेक और कैबरे के कलात्मक नामों के पीछे खुलेआम वेश्यावृत्ति हो रही है और समाचारपत्रों में खुले विज्ञापनों द्वारा युवकों को आमंत्रित किया जा रहा है। अपने नाटक लिखते हुए प्रसाद ने शायद ही कभी सोचा हो कि जो कुछ भूत के राष्ट्रद्रोही विलासी शासकों ने किया, वही स्वतंत्र भारत में पुनः दोहराया जाएगा।

देश की इस पतित तथा विस्फोटक स्थिति में, उद्धारकर्ता सारे नायक एक प्रकार से उदासीन तथा अधिकार छोड़ भागने के लिए प्रस्तुत जीव हैं। अंधकार के इस सागर में टिमटिमाते आशा के इस दीप की उदासीनता बड़ी महत्त्वपूर्ण और विलक्षण है। 'स्कंदगुप्त' तो प्रारंभ ही स्कंद की इसी उदासीनता से होता है। "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।

उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिक लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं ?”¹⁴ फिर वह पर्णदत्त से पूछता है, अधिकार का उपयोग करूँ। वह भी किस लिए?”¹⁵

यह ठीक है कि उसके भीतर तड़पती हुई कर्तव्य-भावना उसे देश और उसकी परिस्थितियों से उदासीन नहीं होने देती, किंतु उसके भीतर का संन्यासी, फकीर सदा ही अधिकार के बंधनों को तोड़ भागने के लिए तत्पर है। साम्राज्य की अंतिम विदाई से पूर्व, निराशा की स्थिति में वह देवसेना के सम्मुख यह प्रस्ताव भी करता है, “चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हो, हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना महत्त्व तुम्हें अर्पित करके ऋण होऊंगा और एकांतवास करूंगा।”¹⁶

यहाँ वह साम्राज्य का मोह छोड़ रहा है। देवसेना की प्राप्ति उसका वैयक्तिक सुख है। यह उदासीनता की पराकाष्ठा है, जहाँ वह साम्राज्य की चिंता छोड़ कर, अपने वैयक्तिक सुख के सीमित वृत्त में बंदी होकर सब कुछ भूल जाना चाहता है। किंतु, देवसेना की अस्वीकृति उसकी कर्तव्य-भावना को जाग्रत करती है और वह निजी सुख को कर्तव्य पर न्यौछावर कर आजीवन कुमार रहने का व्रत लेता है। साम्राज्य प्राप्त कर, उसे पुरगुप्त को दे देता है। भोग अथवा मोह का कहीं नाम नहीं, सम्राट होकर भी अपने-आप में वह “हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद” है। भोग, मोह अथवा स्वत्व का लेश भी नहीं है। जो कुछ भी है, वह मात्र कर्तव्य है।

“चंद्रगुप्त” में इस प्रकार के दो पात्र हैं – चाणक्य और चंद्रगुप्त। अपना कर्तव्य निश्चित करने से पूर्व चाणक्य में भी एक बार सार्वजनिक जीवन के प्रति यही उदासीनता जागती है और वह अपने वैयक्तिक घरे में आबद्ध हो, संतुष्ट होने की बात सोचता है। उसके जीवन की निराशा उसे उदासीन कर देती है : “पिता का पता नहीं झोपड़ी भी न रह गई। सुवासिनी अभिनेत्री हो गई – संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुंबों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊंध रहा है। क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था ? मगध ! मगध ! सावधान ! इतना अत्याचार ! सहना असंभव है। तुझे उलट दूंगा। नया बनाऊंगा, नहीं तो नाश ही करूंगा। (ठहरकर) एक बार चलू, नंद से कहूँ, नहीं, परंतु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति, वही मिल जाए, मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या ?”¹⁷ किंतु कर्तव्य की पुकार के सम्मुख यह उदासीनता टिक नहीं पाती और चाणक्य, नंद से अपनी भूमि लेकर ही संतुष्ट नहीं होता। वह नंद से लड़ता है, सिकंदर और सिल्यूकस से लड़ता है और चंद्रगुप्त के मार्ग में शत्रु, बाधा अथवा प्रतिद्वंद्वी के रूप में आने वाले सिकंदर, सिल्यूकस, फिलिप्स, नंद, पर्वतेश्वर, कल्याणी, आम्भीक, राक्षस, सुवासिनी, मालविका इत्यादि को या तो नष्ट कर देता है अथवा अनुकूल बना लेता है। अंत में सुवासिनी को राक्षस के हाथों में सौंप, चंद्रगुप्त के पिता को साथ लेकर स्वयं भी वन में चला जाता है। उसके मन में कदाचित् कहीं यह आशंका भी थी कि मौर्य तथा स्वयं उसके द्वारा चंद्रगुप्त के शासन में हस्तक्षेप होने की संभावना है, अतः वह मौर्य और अपने हटने का भी प्रबंध कर देता है।

प्रथम मोह के समान अपनी उदासीनता को एक बार झटक कर जब वह कर्तव्य पथ पर अग्रसर होता है तो आर्यावर्त का सर्वशक्तिमान, सर्वाधिकार भोक्ता चाणक्य उन सारे अधिकारों को पूरी निर्लिप्तता के साथ भोगता है। वह चंद्रगुप्त से कहता है, “छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य।”¹⁸ और स्वयं भी सुवासिनी का मोह वह पूरी तरह से त्याग देता है। अंत में जब वह निष्कण्टक मौर्य साम्राज्य का मंत्री बनकर सुख भोग सकता है, सब कुछ त्याग कर चल देता है। उसके भीतर का संन्यासी बार-बार आवाज़ उठाता है और उसके व्यक्तित्व का वह रूप मुखर होता है। “ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को टुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।”¹⁹

जिस समय चंद्रगुप्त उसके अबोध अधिकार-भोग के प्रति आपत्ति करता है, तब भी उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है और वह स्वीकार करता है : “मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनंद-समुद्र में शांति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनंत आकाश वितान था, शस्य-श्यामला कोमला विश्वंभरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, संतोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया। सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि कांटे, प्रेम के स्थान में भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन में कुमंत्रणा। पतन और कहाँ तक हो सकता है। ले लो मौर्य चंद्रगुप्त। अपना

अधिकार, छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ। शांति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया। जान गया मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ।²⁰ चाणक्य की इसी स्थिति का आभास ऋषि दांड्यायन ने भी दिया था, “चाणक्य ! तुम को तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला - उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था संतोषजनक नहीं।²¹”

समय-समय पर चाणक्य ने अपने जीवन में जो अनुभव किया और कहा था, जिस तथ्य की पुष्टि स्पष्ट शब्दों में स्वयं ऋषि दांड्यायन ने की थी, वह गलत नहीं था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर चाणक्य साम्राज्य को छोड़ तपोवन में जाता है तो अनुभव करता है : “कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है ! भगवान सविता, तुम्हारा आलोक, जगत का मंगल करो। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है तो मेरा कर्म कुलाल-चक्र अपना निर्मित भांड उतार कर धर चुका ? ठीक तो, प्रभात-पवन के साथ सब की सुख-कामना शांति का आलिंगन कर रही है। देव ! आज मैं धन्य हूँ।²²”

दूसरी ओर चंद्रगुप्त है, जिसे फल का भोक्ता माना गया है। वह साम्राज्य का स्वामी है। अतुलित धन-बल अधिकारों का स्वामी, चंद्रगुप्त के हाथों में भी साम्राज्य के सूत्र कर्तव्यपूर्ति के लिए दिए गए हैं। व्यक्ति चंद्रगुप्त कहीं भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। मालविका से बात करने पर उसे चाणक्य की डांट पड़ती है कि वह अपना मूल्यवान समय छोकरियों से बातें करने में क्यों नष्ट कर रहा है और जब उसकी बालसखी कल्याणी उसे अपने प्रेम का स्मरण दिलाती है तो वह कहता है, “परंतु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दर्शा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृति-लता मुरझा गई है।²³” उसके भीतर का व्यक्ति जागता है, महसूस करता है कि सम्राट होकर भी वह अकेला है, दुःखी है, “मैं सब से भिन्न, एक भय-प्रदर्शन-सा बन गया हूँ। कोई मेरा अंतरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट कहकर पुकारती हो।²⁴” और, “युद्ध देखना चाहो, तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वंद्व ! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है। मालविका, तुम मेरी तांबूल वाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।²⁵” किंतु, इस रिक्ति से छुटकारा पाने के लिए वह अपने सम्राट पद को छोड़ नहीं सकता - इसलिए नहीं कि वह भोग में लिप्त है, वरन् इसलिए कि वह अपने कर्तव्य से भाग नहीं सकता। उसे सम्राट का पद दिया गया है, भोग का अधिकारी समझकर उसकी सुख-सुविधा के लिए नहीं, ‘क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए’ और इस कर्तव्य के पीछे उसे कल्याणी की आत्महत्या देखनी पड़ती है, मालविका की मृत्यु देखकर चुप रहना पड़ता है और अंत में अपने माता-पिता और गुरु से विदा लेनी पड़ती है।

‘ध्रुवस्वामिनी’ में स्थिति थोड़ी सी भिन्न है, किंतु तथ्य वही है। शकारि चंद्रगुप्त अपनी पारिवारिक परिस्थितियों की विषमता के कारण अपनी प्रेमिका, वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी तथा अपने राज्याधिकार से उदासीन होकर - उन दोनों को ही त्याग चुका है। यह त्याग भी कर्तव्य-प्रेरित ही था : कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए उसने इस तामस त्याग को स्वीकार किया था। किंतु, जब इतने त्याग और बलिदान के पश्चात् भी कुल की मर्यादा सुरक्षित नहीं रह पाती और ध्रुवस्वामिनी को शकराज (संभवतः रुद्रसेन तृतीय) के सम्मुख उपहार-स्वरूप जाने के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है, तब चंद्रगुप्त को उसका कर्तव्य पुकारता है और वह अपनी दीनता एवं उदासीनता छोड़ कुल-मर्यादा की रक्षा हेतु शकराज से युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाता है। जिस समय वह युद्ध के लिए जा रहा है, उसके मन में साम्राज्य-लिप्सा कहीं नहीं है, वह मर्यादा की रक्षा का कर्तव्य लेकर उठ खड़ा हुआ है। यह दूसरी बात है कि शकराज की मृत्यु के पश्चात् परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, रामगुप्त मद्यप, क्लीव एवं राजसिंहासन के लिए अनुपयुक्त घोषित किया जाता है और चंद्रगुप्त तामसिक त्याग की अपेक्षा

सात्विक ग्रहण को वरीयता देता है तथा कर्तव्य पालन के लिए साम्राज्य की बागडोर स्वीकार करता है।

ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख साम्राज्य, राष्ट्र तथा देश के वे आदर्श नहीं हैं, जो कुमार चंद्रगुप्त के सम्मुख हैं, किंतु अपनी, कुल की और नारी मर्यादा की रक्षा की आवश्यकता वह अवश्य अनुभव करती है। अपनी वैयक्तिक निराशा के कारण वह उदासीन है, अपने प्रति भी और चंद्रगुप्त के प्रति भी : “राजचक्र सबको पीसता है, पिसने दो हम निस्सहायों और दुर्बलों को पिसने दो।”²⁶ उसकी यह उदासीनता उसके निजी स्वार्थों की क्षति तथा इच्छाओं की असफलता के कारण है। यही निराशा उसे इतना दीन बना देती है कि वह रामगुप्त के चरणों में गिर कर अपनी मर्यादा एवं सम्मान की रक्षा की भीख मांगती है। किंतु, रामगुप्त उसकी दीनता एवं उदासीनता को गलत अर्थों में लेता है और वह ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं होता। अब ध्रुवस्वामिनी का कर्तव्य उसे पुकारता है, जिसके लिए पहले वह आत्महत्या करना चाहती है, फिर जीना चाहती है, संघर्ष करती है, विद्रोह करती है। परिणामतः वह चंद्रगुप्त की रानी और साम्राज्य की साम्राज्ञी बनती है।

अपने विभिन्न नाटकों में समान परिस्थितियों एवं अपने प्रतिपाद्य की बार-बार आवृत्ति कर के प्रस्तुत संदर्भों में कतिपय निष्कर्षों को रेखांकित किया है। हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शासन का अधिकार, भोग का माध्यम नहीं, कर्तव्य का आवहान है। निश्चित रूप से श्रेष्ठ शासक वही है जो सत्ता को निर्लिप्त होकर, कर्तव्य समझ कर निभाता है।²⁷ और किसी भी क्षण उसका त्याग कर, उठकर चल देता है। हमारे देश की वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में ये निष्कर्ष और अधिक महत्वपूर्ण हो उठे हैं। जिस देश में ‘कुरसी’ निजी स्वार्थों की पूर्ति का साधन मात्र है और उसकी रक्षा के लिए सिद्धांतों, चरित्रों, प्रजा के हितों और देश की सुरक्षा की हत्या की जा सकती है, दल बदले जा सकते हैं, दूसरे राजनीतिक दलों से सिद्धांत-विरोधी समझौते किए जा सकते हैं – वहाँ प्रसाद का यह निष्कर्ष बहुत मूल्यवान हो उठता है।

प्रसाद ने तामसिक त्याग से सात्विक ग्रहण को सदा अधिक पवित्र तथा वरेण्य माना है, क्योंकि कभी-कभी त्याग की भावना वैयक्तिक दुखों के निर्वेद से जागती है। ऐसी स्थिति में वह त्याग, वह निर्वेद, वह उदासीनता कर्तव्य से पलायन है। जहाँ वैयक्तिक सुख-दुःख, समाज तथा राष्ट्र के हित में आड़े आते हैं, वे त्याज्य हैं। समाज तथा देश का सुख, वैयक्तिक सुख-दुःख से अधिक महत्वपूर्ण ही नहीं, सर्वोपरि है। हो सकता है कि ‘प्रसाद’ के सम्मुख भगवान राम का निर्लिप्त शासन की स्वीकृति और त्याग, आदर्श के रूप में हो। उन्होंने राज्य को भोग के रूप में नहीं, कर्तव्य तथा धर्म के रूप में स्वीकार किया था। स्कंदगुप्त द्वारा देवसेना का त्याग, चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा कल्याणी तथा मालविका की मृत्यु को सहना तथा शकारि चंद्रगुप्त का नाटक आरंभ होने से पूर्व ध्रुवस्वामिनी का त्याग-कर्तव्य के नाम पर ही था। संभवतः प्रसाद के लिए किसी भी शासक का निजी स्वार्थों का त्याग, स्वजननिष्ठुरता चरित्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रहा हो।

सामान्यतः प्रसाद अपने नायकों के अन्तर्द्वन्द्व, पारिवारिक तथा साम्प्रदायिक संघर्षों तथा देशी-विदेशी आक्रमणों में ही व्यस्त रहे हैं। वर्गगत संघर्ष को उन्होंने कोई विशेष महत्व नहीं दिया है, किंतु वर्ग-संघर्ष की वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर पाए हैं। ‘राज्यश्री’ की सुरमा, अपनी दरिद्र अवस्था में प्रसन्न नहीं है और न केवल वह दरिद्रता की पीड़ा का अनुभव करती है, वरन् समृद्ध वर्ग से अपना विरोध भी उसके सम्मुख स्पष्ट है : “मैं उन वैभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हँसी उड़ाते देखती हुई, लौट आई हूँ।”²⁸ उसी नाटक का शांति भिक्षु, जो कालांतर में विकटघोष नामक साहसिक बन जाता है, वर्ग-संघर्ष की इस कोंच को जानता है और कहता है, “शांति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख मांगने में।”²⁹

‘विशाख’ में मुख्य-कथा वर्ग-संघर्ष के संबंध में नहीं, राजा और प्रजा के संबंधों तथा राजा के कर्तव्य एवं प्रजा के न्याय के लिए संघर्ष को लेकर है, किंतु फिर भी निर्धनता, वर्ग-संघर्ष तथा आदिम-संचय संबंधी कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं। परिचय पृष्ठे जाने पर इरावती की उक्ति है : “क्षमा कीजिए, मैं अब कभी इधर न आऊंगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसी से आज सेम की फलियाँ, पेट भरने के लिए, अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूँ।”³⁰ इसमें इरावती ने अत्यंत दीनता से अपने दरिद्र का कथन भर किया है, उसमें न तो वर्ग की भावना है और न अपने शोषक वर्ग के प्रति आक्रोश की, परिणामतः वर्ग-संघर्ष के अन्तर्गत इसे नहीं लिया जा सकता, यह उस संघर्ष की पृष्ठभूमि चाहे हो। अन्याय का

विरोध करने वाला विशाख स्पष्टतः इस संघर्ष का आह्वान करता हुआ कानीर विहार के बौद्ध महंत सत्यशील से कहता है, 'मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं है।'³¹ इस उक्ति में विशाख न केवल वर्गों के इस वैषम्यों के प्रति सजग-सचेत है, वरन् उसकी वर्ग-भावना, शोषक-वर्ग के विरुद्ध आक्रोश, चेतावनी तथा संघर्ष के लिए अपनी तत्परता स्पष्ट करता है।

इस नाटक में प्रसाद ने अत्यंत मुखर रूप में 'आदिम-संचय'³² के सिद्धांत का वर्णन किया है। मूलतः वह भूमि सुश्रवा नाग की है, जो संभवतः कृषक-वृत्ति का व्यक्ति है। कश्मीर का शासक नरदेव, बलात् उस भूमि को हस्तगत कर सत्यशील को दान कर देता है और सुश्रवा को सर्वथा निराश्रित अवस्था में छोड़ देता है, और वह अपनी दीनता में अपने परिवार सहित शोषित एवं अपमानित होता रहता है। नरदेव का रूप कुछ भिन्नता लिए हुए अवश्य है, किंतु सत्यशील पूर्णरूपेण अन्यायी, अत्याचारी, विलासी, अकर्मण्य तथा समाज का बोझ है। वह शोषक वर्ग का संपूर्ण प्रतिनिधि है। उस भूमि को राजा ने अपने किसी नियमाधीन हस्तगत किया होगा, किंतु विशाख उसे वैध हस्तांतरण न मानकर 'अपहरण' करना ही मानता है।³³ अतः यह शुद्धतः आदिम संचय है, जहाँ अन्यायपूर्वक प्रजा से उनकी सम्पत्ति छीन कर सत्ताधारी अपने पास उसे संचित कर लेता है।

'अजातशत्रु' का विरुद्धक, जो शैलेन्द्र नामक साहसिक भी है, इसी आदिम संचय का ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करता है : "मैं बाहुबल से उपार्जन करूंगा। मृगया करूंगा। क्षत्रिय कुमार हूँ, चिंता क्या है ? स्पष्ट कहता हूँ बंधुल, मैं साहसिक हो गया हूँ। अब वही मेरी वृत्ति है। राज्य-स्थापन करने के पहले मगध के भूपाल भी तो यही करते थे।"³⁴ स्पष्टतः प्रसाद पूँजीपति मठों तथा पूँजीवादी-सामंतवादी अर्थ-व्यवस्थाओं पर आश्रित साम्राज्यों के मूल में अन्यायपूर्ण 'आदिम-संचय' को मानते हैं।

'जनमेजय का नाग-यज्ञ' का माणवक वर्ग-संघर्ष की पीड़ा से अत्यधिक प्रताड़ित पात्र है और कदाचित् उसी का आक्रोश सर्वाधिक मुखर भी है : "नहीं, मां बड़ी भूख लग रही है। पेट की ज्वाला ही बड़वाग्नि है, जो कभी नहीं बुझती। उसे सब लोग नहीं अनुभव कर सकते। जो उत्तम पदार्थों की थाली पैर से टुकरा देते हैं, जिन्हें अरुचि की डकार सदा आती रहती है, वे इसे क्या जानेंगे। मां, इसी के लिए ऐसे कर्म हो जाते हैं जिन्हें लोग अपराध कहते हैं। + + + क्या मुझे शांति मिलेगी, जब तुम हस्तिनापुर के राजमंदिर के वातायनों की ओर दीनता से ताकती रहोगी ? + + + मां, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊंगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ, उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूंगा। मैं आत्मघात कर लूंगा।"³⁵

'स्कंदगुप्त' में मातृगुप्त जब प्रथम बार मंच पर आता है, उसकी कविता, कला, पांडित्य इसी प्रकार समृद्ध वर्ग के अहंकार से पीड़ित है। वह अपने-आप से प्रश्न करता है : " + + + लक्ष्मी के लालों का भू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या ? एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है ! संचित हृदयकोष के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन सी व्यवस्था होगी।"³⁶ 'राज्यश्री' में भी दुखी 'विमला' कुछ इसी प्रकार के भावों को अभिव्यक्ति देती है : "जिसके कान मोतियों के कुंडल से बाहर लदे हैं और प्रशंसा एवं संगीत की झनकारों से भीतर भी भरे हैं, वे ही क्रंदन नहीं सुनना चाहते।"³⁷

प्रसाद के चिंतन की इस उत्तरोत्तर परिपक्व होती हुई लेखन-प्रक्रिया में आरंभ के नाटकों में इस संघर्ष ने उन्हें अधिक आकर्षित किया है। उत्तरकालीन नाटकों में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक संघर्षों को अधिक महत्त्वपूर्ण मान लेने के कारण वर्ग-संघर्ष पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है। जिन नाटकों में सुरमा, विकटघोष, इरावती, विशाख, मागंधी, विरुद्धक, माणवक तथा मातृगुप्त के माध्यम से इस संघर्ष के प्रति उन्होंने विभिन्न संकेत दिए हैं, उन नाटकों में इस संघर्ष को आगे बढ़ाने, खुलकर उसका पक्ष-समर्थन करने तथा उसका समाधान प्रस्तुत करने में वे उसकी उपेक्षा कर जाने की सीमा तक सावधान रहे हैं। सुरमा पहले देवगुप्त की रानी तथा तत्पश्चात् वीरांगना बन जाती है। विकटघोष साहसिक है ही। इरावती दीन है, उसमें प्रतिरोध नहीं है। विशाख राजा के पास न्याय मांगने के लिए चला जाता है। मागंधी पहले रानी, वेश्या और फिर भिक्षुणी हो जाती है। विरुद्धक साहसिक बनकर, अंत में फिर राजा बन जाता है। माणवक अपने शत्रुओं को क्षमा कर देता है और उनके द्वारा स्वयं भी

क्षमादान प्राप्त करता है तथा मातृगुप्त कश्मीर का शासक बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये समस्त पात्र अपना आक्रोश प्रकट करके ही रह जाते हैं। वे लोग विरोध, संघर्ष तथा हिंसा के मार्ग की ओर उन्मुख हो-हो कर लौट आते हैं।

वस्तुतः प्रसाद ने उस वर्ग को सामान्यतः शोषक वर्ग के रूप में नहीं, समृद्ध वर्ग के रूप में ही चित्रित किया है। उनके ये पात्र, प्रेमचंद के उपन्यासों के विभिन्न पात्रों के समान ही नहीं हैं और उनके नायक लोग सामान्यतः स्वयं राजा, शासक, मंत्री अथवा सेनापति इत्यादि हैं, जिनसे न्याय की ही आशा है। वे पात्र न्याय-प्रिय हैं, अथवा बन जाते हैं। वे राष्ट्र के उद्धारकर्ता हैं, जन-नायक हैं। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि निर्धनता, वर्ग-संघर्ष तथा आदिम संघर्ष इत्यादि की चर्चा करने पर भी, समग्रता प्रसाद को देश की सुरक्षा तथा बाहरी भीतरी शत्रुओं की अधिक चिंता है। देश तथा राष्ट्र के धरातल पर बाह्य तथा आंतरिक राजनीतिक विरोधों एवं संघर्षों के शमन एवं समाधान के विषय में प्रसाद का दृष्टिकोण स्थिर होते हुए भी कुछ परिवर्तनशील है। संघर्षों के इन समाधानों के मूल में प्रसाद पर कहीं बौद्ध धर्म का प्रभाव लक्षित होता है, कहीं क्षत्रिय मनोवृत्ति के अनुसार पापी को दंड देने का कर्मवादी चिंतन प्रधान हो उठा है तथा अन्यत्र ऐतिहासिक तथ्यों ने उन्हें मुक्त नहीं रहने दिया है।

‘सज्जन’ तथा ‘प्रायश्चित्त’ में प्रसाद के सम्मुख शत्रु बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत हैं और उसका अंत भी उन्होंने बहुत दृढ़ होकर किया है। ‘सज्जन’ का चित्रसेन बाहरी आक्रमणकारी है, अतः सर्वप्रथम उसका दमन आवश्यक है और वह भी शस्त्र द्वारा। ‘प्रायश्चित्त’ में गौरी बाहरी आक्रमणकारी है - इतिहास कहता है कि उससे किसी प्रकार का प्रतिशोध नहीं लिया गया, अतः ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लंघन न कर सकने के कारण, उस आक्रमण का प्रतिशोध जयचंद से ही लिया जा सकता था, जो इस आक्रमण का मूल कारण एवं सहायक था। किंतु जयचंद को दंड देने वाला कोई इतिहास-पुरुष न होने के कारण प्रसाद ने विद्याधरी का निर्माण किया जिसने जयचंद को मृत्युदंड दिया और जयचंद ने आत्महत्या कर, देश के साथ विश्वासघात का प्रायश्चित्त किया।

‘राज्यश्री’ से प्रसाद पर, बौद्ध धर्म की करुणा, क्षमा तथा हृदय परिवर्तन इत्यादि का प्रभाव पर्याप्त मुखर हो उठा है, फिर भी इस नाटक में इतिहास के कारण बाध्य हो, देवगुप्त का वध होता है, किंतु अन्य सारे शत्रुओं को क्षमा कर दिया जाता है। हर्षवर्धन न केवल पुलकेशन से युद्ध करना अस्वीकार कर देता है, वरन् राज्यश्री के प्रभाव से शांतिभिक्षु तथा सुरमा को भी क्षमा कर देता है। शशांक के प्रति भी प्रतिशोध का उसका कोई विचार नहीं है। ‘विशाख’ में नरदेव को क्षमा कर दिया जाता है और उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है। ‘अजातशत्रु’ में भी समस्त वैर-विरोध मिट जाते हैं और अंत तक पहुंचते-पहुंचते महात्मा बुद्ध के प्रभाव से सब लोग एक-दूसरे के दोषों एवं विरोधों के प्रति क्षमाशील हो जाते हैं।

‘जनमेजय का नाग-यज्ञ’ से प्रसाद, बौद्ध-प्रभाव से कुछ मुक्त होते से प्रतीत होते हैं। स्कंदगुप्त में यह प्रभाव कुछ कम है तथा अंतिम दो नाटकों ‘चंद्रगुप्त’ तथा ‘ध्रुवस्वामिनी’ में उसका रूप सर्वथा परिवर्तित हो चुका है। वे शत्रुओं के प्रति पर्याप्त कठोर हो गए हैं। ‘जनमेजय का नाग-यज्ञ’ में दोनों पक्षों की ओर से पर्याप्त हिंसा होने पर भी, अंत में संधि हो जाती है। वस्तुतः यह विरोध जनमेजय तथा तक्षक का वैयक्तिक विरोध न होकर, दो संस्कृतियों का संघर्ष था। इस प्रकार के सांस्कृतिक संघर्षों में किसी एक संस्कृति का नाश-एक गलत समाधान है। उस संघर्ष का अंत समन्वय में ही हो सकता है, और वही इस नाटक में हुआ। किंतु, कश्यप का विरोध किसी सैद्धांतिक धरातल पर नहीं था - वह विरोधी अथवा शत्रु भी नहीं था, वह विश्वासघाती लोभी-लोलुप एवं दुश्चरित्र था। अतः, उसका शमन आवश्यक था। यह शमन उसकी हत्या द्वारा हुआ है, हृदय-परिवर्तन, अथवा चरित्र-शोधन से नहीं। यहीं से प्रसाद संघर्ष के समाधान में दृढ़ होते हुए दिखते हैं।

‘स्कंदगुप्त’ में विरोधी विदेशी भी हैं और स्वदेशी भी। यहाँ प्रसाद का समस्त बल विदेशियों के विरुद्ध है। स्वदेशी शत्रुओं में से प्रपंचबुद्धि की अपवाद स्वरूप हत्या की जाती है, अन्यथा समस्त शत्रुओं को स्कंदगुप्त बार-बार पराजित कर मुक्त करा देता है। अंत में खिंगिल को भी देश-निर्वासन का आदेश देता हुआ स्कंद, उसे स्वतंत्र कर देता है। संभव है कि यह घटना प्रसाद ने बालादित्य द्वारा मिहिरकुल को पराजित कर मुक्त कर देने

के ऐतिहासिक तथ्य से प्रभावित हो, इस रूप में प्रस्तुत की हो। जिस कारण से भी हो, इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' विदेशी शत्रु के वध के पक्ष में हों या न हों, उससे देश की धरती पर समझौता करने के पक्षधर वे नहीं हैं, जो स्वतंत्र भारत के देशद्रोही शासकों ने बार बार किया है। विदेशियों को देश से निर्वासित अवश्य कर दिया जाना चाहिए - इस विषय में उनके मन में कोई दुविधा नहीं है। अनावश्यक हत्याओं का समर्थन वे नहीं करते - यदि विरोधी के अनुकूल होने की कोई भी संभावना हो तो उसे एकाधिक अवसर भी दिए जा सकते हैं, किंतु प्रपंचबुद्धि जैसे दुष्ट चरित्र की हत्या को वे अनुचित भी नहीं मानते, जबकि स्वतंत्र भारत के शासक आतंकवादियों की सुरक्षा के प्रबल समर्थक हैं।

'चंद्रगुप्त' तक आते-आते प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्यों के हाथों बाध्य होकर चाहे सिकंदर और सिल्यूकस को जीवन-दान दिया हो, अन्यथा वे चाणक्य की नीति के अनुसार किसी को क्षमा नहीं करते। फिलिप की हत्या हुई, नंद का वध किया गया, कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या तथा फिर आत्महत्या, मालविका की हत्या-एक के पश्चात् एक होने वाली हत्याएँ चंद्रगुप्त का मार्ग ऋजु और निष्कंटक बनाती चली जाती हैं। यहाँ राक्षस तथा आम्भीक इत्यादि को अवश्य क्षमा किया गया है, पर उन्हें राष्ट्र के लिए उपयोगी समझकर अनुकूल भी बना लिया गया है। अंतिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में क्षमा नाम की कोई वस्तु नहीं है - प्रत्येक शत्रु को तलवार के घाट उतार दिया गया है।

इस प्रकार प्रसाद ने विरोधियों के साथ निपटने के तीन मार्ग स्वीकार किए हैं - अनुकूल होने पर क्षमा, देश से निर्वासन अथवा हत्या। यह निर्णय करना अत्यंत दुष्कर है कि विभिन्न स्थानों पर इन मार्गों को स्वीकार करने का कारण प्रसाद की अपनी चिंतन-पद्धति थी अथवा ऐतिहासिक बाध्यता, किंतु फिर भी इस संदर्भ में प्रसाद की चिंतन-पद्धति का एक सामान्य रूप अवश्य निर्धारित किया जा सकता है। अनावश्यक हत्याएँ प्रसाद श्लाघ्य नहीं मानते, किंतु उत्तरोत्तर उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ एवं कठोर अवश्य होता गया है। दूसरी ओर जहाँ कहीं देशी तथा विदेशी शत्रुओं में चुनाव करना पड़ा है, प्रसाद के नायकों ने विदेशी शत्रुओं के नाश को सदा प्राथमिकता दी है। अर्जुन द्वारा चित्रसेन का पराजित होना, स्कंदगुप्त द्वारा पुरगुप्त, भटार्क तथा अनंतदेवी को विस्मृत कर पुष्यमित्रों, शकों तथा हूणों को देश से खदेड़ देने की प्रतिज्ञा, चंद्रगुप्त द्वारा पहले सिकंदर को देश से निकाल, फिलिप की हत्या कर नंद से संघर्ष करना तथा पुनः अन्य झगड़ों को भूलकर सिल्यूकस को एक अपमानजनक संधि के लिए बाध्य करना, शकारि चंद्रगुप्त द्वारा रामगुप्त को छोड़ शकराज रुद्रसेन तृतीय से युद्ध इत्यादि, इस निष्कर्ष के आधार हैं।

जातिगत, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक विरोधों एवं संघर्षों को प्रसाद ने प्रायः घरेलू झगड़ों के रूप में स्वीकार किया है। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में आर्य-नाग झगड़े में पर्याप्त रक्तपात हुआ है, अनेक हिंसात्मक युद्ध हुए हैं जिन में दोनों पक्षों ने दुष्टता तथा बर्बरता के भयानक प्रदर्शन किए हैं, किंतु उनके इस संघर्ष का अंत दोनों जातियों के प्रेम-बंधन में बंध जाने से ही हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य तथा कार्नेलिया का विवाह भी प्रायः वैसा ही लगता है जैसे कि जनमेजय तथा मणिमाला का, किंतु यह साम्य केवल ऊपरी स्तर का ही है। गहराई में जाने पर उनमें स्पष्ट अंतर दृष्टिगत होता है। नाग तथा आर्य लोगों में पहले भी सरमा तथा वासुकि एवं मनसा तथा जरत्कारु के विवाह-संबंध हो चुके हैं और उन दोनों की संतानें इस जातिगत विरोध को निपटाने में पर्याप्त सहायक हुई हैं। उसके पश्चात् जब दोनों ओर के राजपरिवार इस प्रकार के रक्त-संबंध में ग्रंथित हो जाते हैं तो एक नई सम्मिलित संस्कृति का जन्म होता है। दूसरी ओर चंद्रगुप्त मौर्य तथा कार्नेलिया में प्रेम-संबंध प्रसाद ने चाहे दिखाया हो, किंतु यह निश्चित है कि वह विवाह समानता के धरातल पर नहीं हुआ था। चंद्रगुप्त ने ऊपर से मैत्री का हाथ अवश्य बढ़ाया था, किंतु सिल्यूकस के राज्य में से एक बड़े क्षेत्र को लेकर तथा कार्नेलिया के साथ विवाह करके जो संधि की गई, वह एक सम्मिलित संस्कृति को जन्म देने के लिए नहीं, सिल्यूकस को सदा प्रायः अधीन रखने के लिए ही था। इसी नाटक में ब्राह्मण-क्षत्रिय विरोध, अंत में मात्र एक व्यक्ति - कश्यप - की लोलुपता तथा दुश्चरित्रता का प्रमाण प्रतीत होता है, जिसे उसकी हत्या द्वारा समाप्त कर दिया गया।

स्कंदगुप्त में ब्राह्मण-बौद्ध विरोध पर्याप्त विकट रूप धारण कर लेता है, किंतु प्रसाद ने उसे भी बल-प्रयोग

अथवा हिंसा के माध्यम से नहीं, मेल-मिलाप और समझदारी से राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर समाप्त किया है। 'चंद्रगुप्त' में यद्यपि चाणक्य बार-बार बौद्ध धर्म की अव्यावहारिकता तथा दुर्बलताओं की ओर संकेत करता है, किंतु वह साथ-साथ यह भी कहता है कि विदेशी आक्रमणकारी ब्राह्मण तथा बौद्ध का भेद नहीं करेंगे, अतः जहाँ तक राष्ट्र की रक्षा का प्रश्न है, उन दोनों को विभाजन की राजनीति छोड़कर परस्पर एक हो जाना चाहिए। अंत में राक्षस यह स्वीकार भी करता है कि चाणक्य का कथन सत्य ही था।

इस प्रकार ये समस्त संघर्ष देश के भीतरी झगड़े हैं, जिन्हें परस्पर स्नेह और उदारता से मिटाया जा सकता है। विभाजन की राजनीति का विरोध कितना आवश्यक था, यह सन् १९४७ ई० के देश के विभाजन ने प्रमाणित कर ही दिया है। इस तथ्य को प्रसाद बहुत पहले ही जान चुके थे, यह दूसरी बात है कि हमारे तथाकथित राजनीतिक नेता विभाजन के पूर्व भी उसको नहीं देख सके और आज भी उस खतरे की ओर से आंखें मूंदे बैठे हैं। स्पष्टतः हमारे आजके शासक देश के वे भीतरी शत्रु हैं, जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भीतरी-बाहरी शत्रुओं से हाथ मिलाए हुए हैं।

समग्रतः ये सिद्धांत प्रसाद के लिए मात्र पुस्तकीय ज्ञान नहीं हैं। उन्हें प्रसाद ने अपने साहित्य एवं जीवन में अनुभूत यथार्थ के रूप में प्राप्त किया है। वे भारतीय इतिहास, राजनीति, संस्कृति तथा देशप्रेम से ओतप्रोत हैं। हमारे युग के साहित्यकारों में देश की सुरक्षा की समस्याओं को इस प्रकार स्पष्ट रूप से देखने-समझने वाला साहित्यकार शायद ही कोई दूसरा हो। यही कारण है कि परंपरावादी होने पर भी, वे रूढ़िवादी नहीं हैं! उनके सिद्धांत मृत अथवा समयातीत नहीं लगते, वे सजीव, सशक्त एवं सद्गानुभूत हैं।

संदर्भ

1- No Conflict, No Drama., 2- 'चंद्रगुप्त', पृ०-711, 3- तुलनीय:

उज्जयिनी के राजा गर्द मिल्ल के अत्याचार से तंग आकर जैन आचार्य कालक उसका विनाश करने के लिए पार्थिया साम्राज्य (पारस कुल) के भीतर शक-जातियों (सगकुल) के पास चले गए। उनका सम्राट साहानुसाहि (पार्थिया के सम्राट की उपाधि) कहलाता था। वह शकों से अप्रसन्न था और उन्हें दंड देना चाहता था। उसने साहियों (शक सरदारों) के पास कहला भेजा कि यदि वे अपने परिवार को उसके क्रोध से बचाना चाहें तो अपना सिर काट कर उसके पास भेज दें। कालक को, गर्द मिल्ल के विरोध में शकों को चढ़ा लाने के लिए, यह अच्छा अवसर मिला। उन्होंने शकों से कहा - "तुम लोग अपना सिर क्यों कटवाते हो ? चलो सिंधुदेश (हिंदुगदेस)।" कालक के कहने से 96 साहियों ने भारत पर आक्रमण किया। + + + किंतु इसमें संदेह नहीं कि कालकाचार्य का निमंत्रण एक बहुत बड़ा निमित्त कारण था और उनके प्रभाव से शकों को सुराष्ट्र और लाट में सहायता भी मिली। + + + उज्जयिनी में शैव और जैन धर्म का पारस्परिक कलह प्रकट है। शैव मतावलंबी गर्द मिल से जैन आचार्यों का संघर्ष बहुत सरल बात थी। जिस प्रकार बाहरी यूनानी आक्रमण के समय पंजाब और सीमांत के बौध संघारामों ने विदेशियों से सहयोग किया था, उसी प्रकार अवंती, सुराष्ट्र और लाट के जैन आचार्यों और कुलों ने शकों का सहयोग किया और अवंती के पतन में सहायक हुए। भारत के आंतरिक भेद ने विदेशी आक्रमणकारियों की बराबर सहायता की है। -प्राचीन भारत (डॉ० राजबली पांडेय) पृ०-229-230 4. स्कंदगुप्त, पृ०-11, 5. चंद्रगुप्त, पृ०-59। 6. स्कंदगुप्त, पृ०-15-16 7. वही, पृ०-18। 8. स्कंदगुप्त, पृ०-94 9. वही, पृ०-95 10. वही, अंक-5। 11. चंद्रगुप्त, पृ०-62 12. वही, पृ०-154 13. वही, पृ०-155 14. स्कंदगुप्त, पृ०-9 15. वही, पृ०-10 16. स्कंदगुप्त, पृ०-139 17. चंद्रगुप्त, पृ०-67-68 18. वही, पृ०-118 19- वही, पृ०-56 20. चंद्रगुप्त, पृ०-188 21. वही, पृ०-97, तुलनीय: तुम्हें भी कर्म करने के बाद, मेरे ही पथ पर, शांति पाने के लिए आना होगा।" विशाख, पृ०-92 22- वही, पृ०-217-218 23- वही, पृ०-113 24- वही, पृ०-184 25- चंद्रगुप्त, पृ०-184 26- ध्रुवस्वामिनी, पृ०-16 27- क - "हम लोग साम्राज्य नहीं स्थापित करना चाहते थे, मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था, आपाततः मुझे युद्ध करना पड़ा। + + + मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूँ। + + + यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ - राज-धर्म का पालन कर सकूँ, कृतकृत्य तो हो ही जाऊंगा।" --- हर्ष की उक्ति, 'राज्यश्री', पृ०-58-59

ख - "आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नहीं कर सकते - राजदंड से ही आप का कर्तव्य पूर्ण होगा। लोकसेवा छोड़कर आप व्रत-भंग न कीजिए।"

-कुमारराज की उक्ति, 'राज्यश्री', पृ०-74

सुएनच्वांग - हां महाराज ! इस धर्मराज का शासन करने के लिए आपको राजमुकुट और दंड ग्रहण करना ही पड़ेगा।

राज्यश्री - भाई यहां त्याग का प्रश्न नहीं है। यह लोक-सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त की ही उत्तमश्री है। -राज्यश्री, पृ०-75

जनमेजय - तो फिर क्या करूं ?

शोध संचयन

SHODH SANCHAYAN

ISSN 2249-9180 (Online)

ISSN 0975-1254 (Print)

RNI No.: DELBIL/2010/31292

**Bilingual journal
of Humanities &
Social Sciences**

Half Yearly

Vol-1, Year-1,

15 Jan-2010

**प्रसाद के नाटकों
में विरोध तथा
संघर्ष**

-प्रो० नरेन्द्र कोहली

पौराणिक साहित्य के अप्रतिम
शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार,
175, वैशाली, पीतमपुरा,
दिल्ली 110034

www.shodh.net

उत्तंक - सम्राट को किंकर्तव्यविमूढ़ होना शोभा नहीं देता। मनोबल संकलित कीजिए, दृढ़-प्रतिज्ञ हृदय के सामने से सब विध्वन स्वयं दूर हो जाएंगे। सबल हाथों में दंड ग्रहण कीजिए।

-जनमेजय का नागयज्ञ, पृ0-5

जनमेजय - देवि ! यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है।

वपुष्टमा - तब फिर क्यों नहीं किसी दूसरे के सिर मढ़ते ?

जनमेजय- यदि ऐसा कर सकता तो फिर बात ही क्या थी !

-- जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृ0-52

28- राज्यश्री, पृ0-17 **29-** वही, पृ0-60 **30-** विशाख, पृ0-13-14 **31-** वही, पृ0-17 **32-** पूँजी, कार्ल मार्क्स। **33-** "उसी की भूमि अपहृत करके - आपके स्वर्गीय पिता ने विहार में दान कर दिया था।" -विशाख, पृ0- 29 **34-** अजातशत्रु, पृ0-66 **35-** जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृ0-29, 30, 31। **36-** स्कंदगुप्त, पृ0-21 **37-** राज्यश्री, पृ0-37

शोध.
संचयन
SHODH SANCHAYAN